ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 481-484

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-I, Issues-16, YEAR- June -2020

प्रातिशाख्यों में वर्णित बल विचार का भाषा वैज्ञानिक महत्व

डॉ0 विनीता सिंह

एसो0 प्रो0– संस्कृत विभाग, कन्या महाविद्यालय आर्य समाज भूड़, बरेली (उ0प्र0), भारत

Received- 12.07.2020, Revised- 15.07.2020, Accepted - 19.07.2020 E-mail: -vinita1963singh@gmail.com

सारांश : ***शिक्षा ग्रन्थों के वर्ण्य वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान इत्यादि विषयों को प्रातिशाख्य ग्रन्थों में विस्तृत आकार दिया गया। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि वेद की प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित ग्रन्थ प्रातिशाख्य है। वेद की प्रत्येक शाखा की अलग अलग विधाएं व प्रभाव थे अतः उनकी वैज्ञानिकता भी भिन्न थी। इस सूक्ष्म भिन्नता को स्पष्ट और वेदशाखा को पृथक घोषित रखने के लिए उनके विस्तारक ग्रन्थों ने अक्षुण्ण प्रयास किये। जिसके फलस्वरूप प्रातिशाख्य ग्रन्थों में तत्सम्बन्धी वेदशाखा की मौलिकता सुरक्षित रही। प्रातिशाख्यों में वर्णों के उच्चारण स्थान, अभ्यन्तर प्रयत्न तथा बाह्य प्रयत्नों का वर्णन किया गया। इसे ऋषियों ने बल संज्ञा दी है। तत्कालीन ऋषियों ने वर्णोच्चारण प्रक्रिया का गहन दर्शन किया और वर्णोत्पत्ति का संपूर्ण विज्ञान उपस्थित किया। इस प्रकार प्रातिशाख्यों ने आधुनिक भाषाविज्ञान की नींव को सुदृढ़ आधार प्रदान किया।***

कुंजीभूत शब्द – प्रातिशाख्य ग्रन्थों, विधाएं, वैज्ञानिकता, विस्तारक ग्रन्थों, तत्सम्बन्धी वेद, भाषाविज्ञान।

प्रातिशाख्यों में बल विचार– शिक्षाग्रन्थों में वर्णों के उच्चारण स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न, बाह्य प्रयत्न आदि विषयों को बल संज्ञा दी गई है। प्रातिशाख्य ग्रंथों में भी इन विषयों पर सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त प्रक्रिया, अवयव, प्रयत्नादि के विषय में प्रातिशाख्यों में अति सूक्ष्म विश्लेषण उपलब्ध है। वर्णों के उच्चारणावयव के रूप में 'स्थान' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम गोप ब्रा० में किया गया है (1)। प्रातिशाख्यों ने भी 'स्थान' शब्द को 'वर्णों का उच्चारण स्थान' अर्थ में प्रयुक्त किया है। इन पर संक्षिप्त दृष्टिपात प्रस्तुत है–

स्थान विचार– 'स्थान' की परिभाषा देते हुए ऋक् प्रातिशाख्य में कहा गया है कि अकारादि वर्णों की 'कण्ठ्य' आदि जो योग्यता कही गई है, वह 'कण्ठ' आदि उच्चारण 'स्थान' है (2)। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य कहता है कि जहां उपसंहार होता है वह स्वरों का उच्चारण स्थान है (3)। अर्थात् उच्चारणावयव जिसके समीप जाते हैं वह स्वरों का उच्चारण 'स्थान' है और व्यंजनादि के उच्चारण में अवयव द्वारा स्पर्श किया जाने वाला अंग व्यंजन का उच्चारण 'स्थान' है। वाजसनेयी प्रातिशाख्य में जिह्वामूल आदि को 'स्थान' कहा है। चतुरध्यायिका तथा ऋक् तन्त्र में भी 'स्थान' संज्ञा का विधान न करके उच्चारण स्थान के अर्थ में 'स्थान' का प्रयोग किया है और वर्णों के स्थान प्रदर्शित किए गए हैं।

ऋक् प्रातिषाख्य ने नौ उच्चारण स्थान स्वीकार किए हैं– कण्ठ, उरस्, जिह्वामूल, तालु, मूर्धा, दन्तमूल, बर्स्व, ओष्ठ, नासिका। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ग्यारह उच्चारण स्थान कहता है– हनुमूल, हनु, तालु, मूर्धा, जिह्वाग्र, ओष्ठ, दन्तमूल, दन्त, कण्ठ, नासिका, मुखनासिका। वाजसनेयी प्रातिशाख्य में आठ उच्चारण स्थान कहे हैं– जिह्वामूल, तालु, मूर्धा, दन्तमूल, दन्त, ओष्ठ, कण्ठ, नासिका। ऋक् तन्त्र दस स्थान मानता है– कण्ठ, उरस्, जिह्वामूल, तालु, मूर्धा, दन्त, दन्तमूल, ओष्ठ, हनु, नासिका।

वर्णों के उच्चारण के लिए अंदर से आती हुई वायु को मुख विवर में रोककर अथवा अन्य कई प्रकारों से विकृत करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में दो अवयव क्रियाशील होते हैं। उनमें अधिक सक्रिय अवयव को 'करण' (उच्चारण में प्रयुक्त मुख्य स्थान) तथा अपेक्षाकृत अचल अवयव को 'स्थान' कहते हैं।

कण्ठ– ऋक् प्रातिशाख्य में अ, प्रथम तथा पंचम ऊष्म वर्ण (ह, अः) का उच्चारण स्थान कण्ठ कहा गया है। "प्रथमपंचमौ च द्वा ऊष्मणाम्। (4)।" तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 'ह्' और विसर्ग को कण्ठस्थानी कहा गया है– "कण्ठस्थानौ हकारविसर्जनीयौ। (5)।"

वाजसनेयी प्रातिशाख्य के अनुसार कण्ठ से अ, ह, तथा विसर्जनीय उच्चारित होते हैं– "अ हविसर्जनीयाः कण्ठे। (6)।" ऋक् तन्त्र में ह, अ, आ तथा विसर्जनीय का स्थान 'कण्ठ' कहा है (7)। प्रातिशाख्य ग्रन्थों के अनुसार स्वरतंत्रियों के बीच के अवकाश अथवा स्वरयन्त्र मुख (काकल) को कंठ कहा है।

जिह्वामूल– ऋक् प्रातिशाख्य में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, क और कवर्ग वर्णों का उच्चारण स्थान जिह्वामूल कहा गया है। "ऋकारल्कारावथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः। (8)।" तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में कहा गया है कि कवर्ग के उच्चारण में जिह्वामूल से हनुमूल में स्पर्श करते हैं। "हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति"। (9)। वाजसनेयी प्रातिशाख्य में ॠ तथा कवर्ग का उच्चारण स्थान जिह्वामूल कहा गया है। "ऋ कौ जिह्वामूले। (10)।" चतुरध्यायिका में जिह्वामूलीय

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-I, Issues-16, YEAR- June -2020

वर्णों का 'करण' हनुमूल कहा गया है। "जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्"। (11)। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य और चतुरध्यायिका में साम्य है।

उपध्मानीय स्थान– ऋक् प्रातिशाख्य के भाष्यकार उव्वट ने 'प्' उपध्मानीय का उच्चारण स्थान 'ओष्ठ' कहा है। वाजसनेयी प्रातिशाख्य में उपध्मानीय के लिए 'उपध्मा' शब्द का भी प्रयोग किया है। यहां 'उपध्मानीय' का उच्चारण स्थान 'ओष्ठ' कहा है। (12)। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के वैदिकाभरण भाष्य में कहा गया कि 'उपध्मान' (फूंक मारना) से उत्पन्न वर्ण उपध्मानीय कहलाता है (13)। चतुरध्यायिका के भाष्य में स्पष्ट किया है कि 'उपध्मानीय का करण' निचला 'ओष्ठ' है (14)।

तालु– ऋक् प्रातिशाख्य में 'ए', चवर्ग, य् और श् का उच्चारण स्थान तालु कहा है। "तालव्या का रचकार वगा 'विकारैकारौयकारः शकारः। (15)।" तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में चवर्ग, यकार और शकार के उच्चारण में जिह्वा द्वारा पृथक् पृथक् विधि से तालु स्पर्श का विधान किया गया है (16)। वाजसनेयी प्रातिशाख्य में इवर्ण, चवर्ग, ए, श् तथा य् को तालुस्थानी कहा है। इन वर्णों का करण 'जिह्वामध्य' कहा गया है। "इचेशयास्तालौ।" "तालुस्थाना मध्येन। (17)।" चतुरध्यायिका में तालव्य वर्णों की गणना न करके उनका करण 'जिह्वामध्य' कहा है। "तालव्यानां मध्यजिह्वम्"। (18)। ऋक् तन्त्र में श्, च्, य्, इ, ई तथा ए का उच्चारण स्थान 'तालु' कहा है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्वरों को तालव्य नहीं कहा गया है।

मूर्धा– ऋक् प्रातिशाख्य में ष् और टवर्ग का उच्चारण स्थान मूर्धा कहा गया है। "मूर्धन्यौ शकारटकारवर्गौ"। (19)। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य, ऋक् तन्त्र भी यही मानते हैं (20)। चतुरध्यायिका के अनुसार पीछे की ओर मुड़ा हुआ जिह्वा का अग्रभाग मूर्धन्य वर्णोंका 'करण' है (21)।

दन्तमूल– ऋक् प्रातिशाख्य ने तवर्ग, सकार, रेफ और लकार का उच्चारण स्थान दन्तमूल कहा है। "दन्तमूलीयः तकारवर्गः। सकाररेफलकाराश्च। (22)।" तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में तवर्ग के उच्चारण में जिह्वाग्र द्वारा दन्तमूल का स्पर्श किया जाना कहा है। लकार और सकार को दन्तमूलीय कहा गया है (23)। वाजसनेयी प्रातिषाख्य ने रेफ को दन्तमूलीय तथा तवर्ग, सकार, लकार और ऌकार को दन्तस्थानी कहा है। "रो दन्तमूले। ऌलसिता दन्ते। (24)।" ऋक् तन्त्र तवर्ग सकार और लकार को दन्त स्थानी कहता है– "दन्तेत्सलाः"। (25)। चतुरध्यायिका के अनुसार आगे की ओर फैला हुआ जिह्वा का अग्रभाग दन्त्य वर्णों का 'करण' है।

बर्स्व– ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार कुछ आचार्य रेफ का उच्चारण स्थान 'बर्स्व' कहते हैं। "रेफ बर्स्व्यमेके"। (26)। तैत्तिरीय प्रातिषाख्य में ऋ, ॠ तथा ऌ की उच्चारण प्रक्रिया में कहा गया है कि इनके उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग बर्स्व (दांतों के ऊपर ऊंचा उठा हुआ भाग) के समीप आ जाता है (27)।

ओष्ठ– ऋक् प्रातिशाख्य में कहा गया है कि नासिक्यों को छोड़कर शेष वर्णराशि ओष्ठ स्थान से उच्चारित होने वाली है।

"शेष ओष्ठ्योऽपवाद्य नासिक्यान्। (28)।" तैत्तिरीय प्रातिषाख्य में कहा है कि पवर्ग के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का परस्पर स्पर्श करना चाहिए तथा वकार के उच्चारण में निचले ओष्ठ के अन्त का दांतों के अग्रभाग से स्पर्श करते हैं। "ओष्ठाभ्यां पवर्गे। ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे। (29)।" तैत्तिरीय प्रातिषाख्य में उपध्मानीय और पवर्ग को ओष्ठस्थानी कहा गया है तथा 'ओ' के उच्चारण में ओष्ठों का समीप आना कहा गया है (30)।

उरस्– ऋक् प्रातिशाख्य में कहा गया है कि कुछ आचार्य 'अः' को उरस् स्थानी मानते हैं। "केचिदेता उरस्यौ"। (31)। ऋक् तन्त्र 'विसर्जनीय' को उरस् स्थानी कहता है। "उरसि विसर्जनीयो वा"। (32)।

प्रयत्न– वर्णों का उच्चारण करते समय मुख में स्थित उच्चारणाव्यवों में वर्णोत्पत्ति या वर्णव्यक्ति सम्बन्धित अनिवार्य व्यापार या प्रवृत्तियां होती हैं। भिन्न भिन्न वर्णों की उत्पत्ति में भिन्न भिन्न व्यापार होते हैं। यह व्यापार प्रयत्न कहलाते हैं। प्रयत्न मुख्यतः दो प्रकार के हैं– 1. आभ्यन्तर प्रयत्न 2. बाह्य प्रयत्न।

आभ्यन्तर प्रयत्न– प्रातिशाख्य ग्रन्थों ने गोपथ ब्राह्मण (1/1/24) में निर्दिष्ट 'वर्णों के उच्चारण में आभ्यन्तर प्रयत्न इसी अर्थ में 'करण' शब्द का प्रयोग किया है। ऋक् प्रातिशाख्य ने तीन आभ्यन्तर प्रयत्न माने हैं– स्पृष्ट, दुःस्पृष्ट, अस्पृष्ट। तैत्तिरीय प्रातिषाख्य ने करण शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है कि जो मुखावयव उपसंहार करता है वह स्वरों का 'करण' है तथा जो मुखावयव स्पर्शन करता है वह व्यंजन वर्णों का करण है (33)। वाजसनेयी प्रातिशाख्य में वर्णोच्चारण में मुख के सक्रिय अवयवों के लिए 'करण' शब्द का प्रयोग किया है और यहां आठ अवयव कहे गए हैं– नासिका, जिह्वाग्र, जिह्वामध्य, ओष्ठ, दन्ताग्र, नासिकामूल, हनुमध्य, हनुमूल (34)। चतुरध्यायिका ने इसी अर्थ का अनुकरण करते हुए नौ 'करण' स्वीकार किए हैं– अधःकण्ठ, हनुमूल, जिह्वामध्य, जिह्वाग्र, द्रोणिका, अधःओष्ठ, नासिका, दन्तमूल, मुखनासिका (35)। ऋक् तन्त्र में पांच करण स्वीकार किए हैं– स्पृष्ट, दुःस्पृष्ट, विवृत, विवृततर, संवृत। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य और चतुरध्यायिका की करण सम्बन्धी व्याख्या ऋक् प्रातिशाख्य और ऋक् तन्त्र से भिन्न है।

अस्पृष्ट– ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार स्वर, अनुस्वार और ऊष्म वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न (करण) 'स्थित अस्पृष्ट' है। "स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम्"। (36)।

ईषत् विवृत– चतुरध्यायिका में स्वरों और ऊष्म

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-I, Issues-16, YEAR- June -2020

वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत् विवृत् कहा गया है।

विवृत– ऋक् तन्त्र में स्वरों और ऊष्म वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न 'विवृत' कहा है।

विवृततर– ऋक् तन्त्र में 'ऐ' तथा 'औ' का आभ्यन्तर प्रयत्न 'विवृततर' कहा गया है। "विवृततरमकारैकारौकाराणाम्"। (37)।

विवृततम– चतुरध्यायिका एकार, ओकार तथा आकार का आभ्यन्तर प्रयत्न 'विवृततम' कहती है। "एकारोकारयोर्विवृततमम्। ततोऽप्याकारस्य"। (38)।

संवृत– चतुरध्यायिका तथा वाजसनेयी प्रातिशाख्य के भाष्य में उवट ने कहा है कि अकार का आभ्यन्तर प्रयत्न 'संवृत' होता है। "संवृतास्यप्रयत्न अकारः"। (39)। स्वर वर्णों और ऊष्म वर्णों के आभ्यन्तर प्रयत्न के विषय में प्रातिशाख्यकारों में मतभेद हैं। स्वर वर्णों और ऊष्म वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न एक सा रहना भी समीचीन नहीं है क्योंकि सभी स्वर सघोष हैं और उनके उच्चारण के समय मुख में वायु का प्रवाह अबाध गति से होता है। किन्तु 'ह्' को छोड़कर शेष ऊष्म वर्ण अघोष हैं और उनके उच्चारण में वायु एक संकीर्ण मार्ग से घर्षण करती हुई मुख से बाहर निकलती है।

दुःस्पृष्ट– ऋक् प्रातिशाख्य में कहा गया है कि य् र् ल् व् का आभ्यन्तर प्रयत्न (करण) 'दुःस्पृष्ट' है। "दुःस्पृष्टं तु प्राग्घकाराच्चतुर्णाम्"। (40)। चतुरध्यायिका में दुःस्पृष्ट के स्थान पर 'ईषत्स्पृष्ट' का प्रयोग किया गया है और यह प्रयत्न अन्तस्था वर्णों का कहा गया है। "ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्"। (41)। ऋक् तन्त्र में भी यही कहा है (42)।

स्पृष्ट– ऋक् प्रातिशाख्य में स्पर्श वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न 'स्पृष्ट' कहा है। "स्पृष्टमस्थितम्"। (43)। चतुरध्यायिका और ऋक् तन्त्र में यही कहा गया है। (44)।

बाह्य प्रयत्न– बाह्य प्रयत्न में स्वरतंत्रियां मुख्य सक्रिय उच्चारण अवयव हैं। बाह्य प्रयत्न को 'प्रकृति' या 'अनुप्रदान' भी कहा है। प्रातिशाख्यों के विवेचन से ज्ञात होता है कि वर्णों के उच्चारण के समय 'बाह्य प्रयत्न' के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले 'श्वास' और 'नाद' को 'अनुप्रदान' कहा गया है।

श्वास– ऋक् प्रातिशाख्य में कहा है कि वक्ता जब बोलने की चेष्टा करता है तो फेफड़े से फेंकी हुई प्राणरूप वायु कण्ठछिद्र के खुले या बन्द होने के अनुसार 'श्वास' या 'नाद' हो जाती है।

"वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठस्य खे विवृते संवृते वा। आपाद्यते श्वासतां नादतां वा वक्त्रीहायाम्"। (45)। ऋक् प्रातिशाख्य में अघोष वर्णों की प्रकृति 'श्वास' को कहा है। "श्वासो घोषाणाम्"। (46)। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, चतुरध्यायिका और ऋक् तन्त्र में यही स्वीकार किया है। (47)।

नाद– ऋक् प्रातिशाख्य में स्वर और सघोष वयंजनों का मूलकारण (प्रकृति या बाह्य प्रयत्न) 'नाद' कहलाता है। "इतरेशां तु नादः"। (48)। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, चतुरध्यायिका तथा ऋक् तन्त्र में इसी विचार को स्वीकार किया है (49)। शिक्षा ग्रन्थों में बाह्य प्रयत्नों का अधिक विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

प्रातिशाख्य ग्रन्थ अधिकांशतः शिक्षा ग्रंथों का अनुकरण करते हैं। कुछ स्थानों पर भिन्नमत दृष्टिगत होते हैं और शाखागत विशिष्टता से सम्बद्ध होने के कारण विशेष स्थलों पर अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत विषय को समाहित करते हैं। उदाहरण के रूप में ऋक् प्रातिशाख्य पाणिनि स्वीकृत दन्त को उच्चारण स्थान न कहकर दन्तमूल तथा बर्स्व (रेफ का उच्चारण स्थान) को उच्चारण स्थान स्वीकार करता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पाणिनि स्वीकृत 'उर' को उच्चारण स्थान न कहकर हनु, हनुमूल तथा दन्तमूल को उच्चारण स्थानों में परिगणित करता है तथा जिह्वामूल के स्थान पर जिह्वाग्र कहता है। इसी प्रकार अनेक स्थान विवेच्य हैं। प्रयत्नों के विषय में भी भेद हैं। कहीं कहीं उच्चारण स्थान और करण अलग अलग परिगणित किये गये हैं। किन्तु प्रातिशाख्यों ने आभ्यन्तर प्रयत्न और करण को पर्यायवाची कहा है। परवर्ती वैयाकरणों ने भी इन विशयों पर विस्तृत विवेचना की है। आधुतिक भाषा विज्ञान में इन प्राचीन तथ्यों का आधार लेकर ध्वनियों का बहुविध विश्लेषण किया गया है। प्राचीन ध्वनि विदों के उच्चारण स्थान और प्रयत्न सम्बन्धी विचारों में पारस्परिक भिन्नता है। सभी मत शास्त्रीय हैं। भिन्नता का कारण संहिता भेद, शाखाभेद या भौगोलिक हो सकता है।

आधुनिक ध्वनिविज्ञानी ध्वनि शास्त्र की तीन शाखाएं कहते हैं– औच्चारणिक शाखा, भौतिक शाखा तथा श्रौतिक शाखा। (50)।

औच्चारणिक शाखा के अन्तर्गत ध्वनियों की उत्पत्ति प्रक्रिया पर विचार किया जाता है और मानवीय ध्वनियन्त्र के विषय में विस्तार से वर्णन किया जाता है।

भौतिक शाखा के अन्तर्गत ऑसिलोग्राफ, टेप रिकार्डर, स्पैक्टोग्राफ आदि निरन्तर आविष्कृत हो रहे ध्वनियन्त्रों की जानकारी प्राप्त होती है। इनसे ध्वनियों के विविध गुणों की माप की जा सकती है।

श्रौतिक शाखा के अन्तर्गत ध्वनियों के परिग्रहण की प्रक्रिया और उसमें प्रयुक्त अवयवों पर विचार किया जाता है। स्पष्ट है कि प्राचीन काल में ध्वनि विदों ने ध्वनियों की उत्पत्ति प्रक्रिया अवयवों और गति आदि का सूक्ष्म विवेचन किया जिससे आधुनिक विज्ञानों को विषय विस्तार की सामग्री उपलब्ध हुई।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गोपथ ब्राह्मण– 1.1.24.
2. ऋक् प्रातिशाखा– 1.49.
3. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य– 2.31.

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-I, Issues-16, YEAR- June -2020

4. ऋक् प्राति०– 1.38, 39.
5. तै० प्राति०– 2.46.
6. वाजसनेयी प्राति०– 1.71.
7. ऋक् तंत्र– 2.
8. ऋक् प्राति०– 1.41.
9. तै० प्राति०– 2.35.
10. वाजसनेयी प्राति०– 1.65.
11. चतुरध्यायिका– 1.20.
12. वाजसनेयी प्राति०– 1.70.
13. तैति० प्राति० (वै० आ०)– 1.18.
14. चतुरध्यायिका (भा०) – 1.25.
15. ऋक् प्राति०– 1.42.
16. तैति० प्राति० – 2.36, 40, 44.
17. वाजसनेयी प्राति०– 1.66, 79.
18. चतुरध्यायिका – 1.21.
19. ऋक् प्राति०– 1.43.
20. तैति० प्राति० – 2.44, वाजसनेयी प्राति०– 1.67, ऋक् तंत्र– ।
21. चतुरध्यायिका – 1.12.
22. ऋक् प्राति०– 1.44, 45.
23. तैति० प्राति० – 2.38, 42, 44.
24. वाजसनेयी प्राति०– 1.68, 69.
25. ऋक् तंत्र – 7.
26. ऋक् प्राति०– 1.46.
27. तैति० प्राति० – 2.18.
28. ऋक् प्राति०– 1.47.
29. तैति० प्राति० – 2.39, 43.
30. तैति० प्राति० – 2.44, 14.
31. ऋक् प्राति०– 1.40.
32. ऋक् तंत्र – 3.
33. तैति० प्राति०– 2.32, 34.
34. वाजसनेयी प्राति०– 1.76.
35. चतुरध्यायिका– 1.18.
36. ऋक् प्राति०– 13.11.
37. ऋक् तंत्र– 1.3.
38. चतुरध्यायिका– 1.34, 35.
39. वाज० प्राति०– 1.72.
40. ऋक् प्राति०– 13.10.
41. चतुरध्यायिका– 1.30.
42. ऋक् तंत्र– 1.3.
43. ऋक् प्राति०– 13.9.
44. चतु०– 1.29, ऋक् तंत्र– 1.3.
45. ऋक् प्राति०– 13.1.
46. ऋक् प्राति०– 13.4.
47. तैति० प्राति०– 2.10, चतु०– 1.12, ऋक् तंत्र– 1.3.
48. ऋक् प्राति०– 13.5.
49. तै० प्राति०– 2.18, चतु०– 1.13, ऋक् तंत्र– 1.3.
50. ए हैंडबुक ऑफ फोनेटिक्स (1877 बी०सी०)।

*****